प्रवेशांक

शोधामृत

(कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की अर्धवार्षिक, सहकर्मी समीक्षित, मूल्यांकित शोध पत्रिका)

Online ISSN-3048-9296
Vol.-1; issue-1 (Jan-Jun) 2024
Page No- 06-09

©2024 Shodhaamrit (Online)
www.shodhamrit.gyanvividha.com

डॉ0 गुलाब सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग,
श्री राधाकृष्ण गोयनका महाविद्यालय,
सीतामढ़ी, बिहार.

Corresponding Author :
डॉ0 गुलाब सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग,
श्री राधाकृष्ण गोयनका महाविद्यालय,
सीतामढ़ी, बिहार-843302.

ओ3म्
योग का अर्थ एवं स्वरूप - एक विश्लेषण

यद्यपि योग एक शाश्वतिक महत्व का विषय है, तीनों कालों में इसकी उपादेयता अक्षुण्ण बनी रहती है तथापि पिछले लगभग एक दशक में यह अतिप्रासंगिक विषय के रूप में उभरकर सामने आया है। विगत कुछ वर्षों में योग की लोकप्रियता उल्लेखनीय रूप से बढ़ी है। आज लगभग प्रत्येक व्यक्ति योग के विषय में जानकारी प्राप्त करना चाहता है अथवा योग को भलीभाँति समझना चाहता है। योग के महत्व एवं जनसामान्य में इसके बढ़ते प्रचार-प्रसार को दृष्टिगत रखते हुए योग के अर्थ एवं स्वरूप पर सम्यक् प्रकार से दृष्टिपात किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रस्तुत शोधालेख में योग के अर्थ एवं स्वरूप के ऊपर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार किया जा रहा है-

'योग' का शाब्दिक अर्थ

'योग' शब्द की व्युत्पत्ति 'युज्' धातु से मानी गई है। व्याकरणशास्त्र में तीन युज् धातुएँ प्राप्त होती हैं- 'युज् समाधौ', 'युजिर योगे' एवं 'युज् संयमने। दिवादिगणीय युज् समाधौ धातु समाधि के अर्थ में प्रयुक्त की जाती है। रुधादिगणीय 'युजिर् योगे धातु का अर्थ मिलन, संयोग अथवा जोड़ माना गया है तथा चुरादिगणीय 'युज संयमने धातु का अर्थ संयमन किया जाता है।

वस्तुतः योग एक आध्यात्मिक विज्ञान है जिसका मुख्य लक्ष्य चित्त की वृत्तियों का निरोध करते हुए समाधि को प्राप्त करना है। यदि इस दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो केवल 'युज समाधौ धातु ही योग के अर्थ में युक्तियुक्त एवं सार्थक प्रतीत होती है। योगसूत्रभाष्यकार व्यास भी 'योगः समाधिः'[1] कहकर इसी धातु का समर्थन करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इतना ही नहीं तत्त्ववैशारदीकार ने भी योग शब्द की व्युत्पत्ति इसी धातु से स्वीकार की है- 'युज समाधौ इत्यस्मात् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो, न तु युजिर योगे इत्यस्मात् संयोगार्थ इत्यर्थ'।[2]

इसके अतिरिक्त यदि 'युजिर् योगे' धातु का अर्थ जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन स्वीकार किया जाए तथा 'युज् संयमने' धातु को मन एवं इन्द्रियों को सयमित करते हुए चित्तवृत्तिनिरोध की अवस्था प्राप्ति के अर्थ में लिया जाए तो योग के अर्थ में इन दोनों धातुओं का प्रयोग भी युक्तियुक्त एवं संगत माना जा सकता है।

'संस्कृत-हिन्दी-कोश' में 'योग' शब्द का अर्थ जोड़ना, मिलाना, संगम, मिश्रण, गम्भीर भावचिन्तन, मन का संकेन्द्रीकरण, परमात्मचिन्तन तथा पतंजलि द्वारा स्थापित दर्शन-पद्धति आदि माना गया है।[3] इसी प्रकार 'हिन्दी-संस्कृत-कोश' में चित्तवृत्तिनिरोध, मनःस्थैर्य, दर्शनशास्त्र विशेष, मोक्षोपाय, मुक्ति-युक्ति, वशीकरणोपाय, ध्यान एवं चिन्तन आदि को योग के अर्थ में स्वीकार किया गया है।[4]

विभिन्न शास्त्रों में योग की परिभाषाएँ

भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से ही योग का वर्णन प्राप्त होता है। विभिन्न शास्त्रों में योग को अपने-अपने ढंग से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। परन्तु महर्षि पतंजलि ने सभी शास्त्रों के सार के रूप में योग की जो परिभाषा दी है, वही सर्वाधिक सारगर्भित, दोषरहित, सुस्पष्ट एवं हृदयग्राही प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो अन्य समस्त परिभाषाएँ उसी का अनुवाद अथवा व्याख्यामात्र हैं। वह परिभाषा है- योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।[5]

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध योग कहलाता है। चित्त का अर्थ है- अन्तःकरण। हमारे बाह्यकरण अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ जब विषयों का ग्रहण करती हैं तो मन उस ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाता है। आत्मा उस ज्ञान को साक्षीभाव से देखता है। बुद्धि व अहंकार विषय का निश्चय करके उसमें कर्तृत्वभाव लाते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया से चित्त में जो प्रतिबिम्ब बनता है वह वृत्ति कहलाता है। यह चित्त का परिणाम है। चित्त दर्पण के समान है। इन्द्रियों के माध्यम से विषय का आकार उसमें प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् चित्त विषय के आकार वाला हो जाता है। चित्त को इस तरह विषयाकार होने से रोकना ही महर्षि पतंजलि की दृष्टि में योग है। इसी को चित्तवृत्तिनिरोध कहा गया है।

कठोपनिषद् में योग को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि, "जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं और मन निश्चल बुद्धि के साथ आ मिलता है. उस अवस्था को 'परम गति' कहते हैं। इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही योग है। जिसकी इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं वह अप्रमत्त अर्थात् प्रमादहीन हो जाता है। उसमें शुभ संस्कारों की उत्पत्ति और अशुभ संस्कारों का नाश होने लगता है। इसी अवस्था का नाम योग है"[6]।

योगशिखोपनिषद् के अनुसार अपान और प्राण की एकता कर लेना, स्वरजरूपी महाशक्ति कुण्डलिनी को स्वरेत रूपी आत्मतत्त्व के साथ संयुक्त करना, सूर्य अर्थात् पिंगला और चन्द्र अर्थात् ईड़ा स्वर का संयोग करना तथा परमात्मा से जीवात्मा का मिलन योग है।[7]

मैत्रायण्युपनिषद् में प्राण, मन एवं इन्द्रियों का एक हो जाना या एकाग्रावस्था को प्राप्त कर लेना, बाह्य विषयों से विमुख होकर इन्द्रियों का मन में और मन का आत्मा में लग जाना एवं प्राण का निश्चल हो जाना योग माना गया है।[8]

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के समानरूपत्वरूप संयोग का नाम योग है।[9]

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने विभिन्न प्रसंगों के अनुसार योग के अनेक लक्षण अर्जुन को बताए हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।[10]

अर्थात् हे धनंजय ! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्त्तव्यकर्मों को कर, समत्व भाव ही योग कहलाता है। भाव यह है कि दुःख-सुख, पाप-पुण्य, शत्रु-मित्र, शीत-उष्ण, मान-अपमान, लाभ-हानि एवं सिद्धि और असिद्धि में समत्व प्राप्त करना अर्थात् समानभाव से एकरस रहना ही योग माना गया है। इससे आगे श्रीकृष्ण कहते हैं-

योगः कर्मसु कौशलम्।[11]

अर्थात् कर्मों में कुशलता ही योग है। कर्मों में कुशलता से तात्पर्य है कि कर्म ऐसी कुशलता के साथ सम्पादित किया जाना चाहिए कि वह कर्म, कर्ता को बन्धन में न डाल सके। इस प्रकार अनासक्त भाव से किया गया कर्म ही योग की श्रेणी में आता है क्योंकि अनासक्तभाव से किया गया कर्म संस्कार उत्पन्न न करने के कारण भावी जन्मादि का कारण नहीं बनता। एक अन्य स्थल पर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि-

तं विद्यात् दुःखसंयोगवियोग योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।[12]

अर्थात हे अर्जुन' तू उस अवस्था को जान, जिसमें स्थित हुआ साधक बड़े से बड़े दुःख के उपस्थित होने पर भी विचलित नहीं होता और जिसमें संसार रूप दुःख सम्बन्ध का आत्यन्तिक वियोग रहता है। वह योग न उकताए हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त से अनुष्ठित होता है। यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण ने दुःखसंयोगवियोग को योग के रूप में वर्णित किया है।

उपर्युक्त 'योग' शब्द के अर्थ एवं विभिन्न शास्त्रीय परिभाषाओं के ऊपर दृष्टिपात एवं चिन्तन-मनन करने के पश्चात् योग का अर्थ निम्न प्रकार माना जा सकता है कि मन एवं इन्द्रियों को संयमित करते हुए तथा अपने व्यवहार एवं आचरण को परिशुद्ध रखते हुए परमात्मप्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्ति की ओर अग्रसर होने का नाम योग है। योग एक जीवन पद्धति अथवा जीवन जीने की कला है जिसके माध्यम से व्यक्ति संसार में रहते हुए भी कीचड़ में कमल की भाँति सांसारिक भोगों से अस्पृष्ट रहते हुए चित्तवृत्तिनिरोध की अवस्था को प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

योग का स्वरुप - एक विश्लेषण

योग के अर्थ एवं परिभाषाओं पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने पर योग के दो महत्वपूर्ण पक्ष उभरकर सामने आते हैं। इनमें से एक पक्ष को निषेधात्मक, नकारवाची अथवा निवृत्तिमूलक पक्ष कहा जा सकता है तथा दूसरे पक्ष को विधेयात्मक, सकारवाची अथवा प्रवृत्तिमूलक पक्ष कहा जा सकता है।

उपर्युक्त दोनों पक्षों में से प्रथम निषेधात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व योग की निम्न परिभाषा करती है-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।[13]

यहाँ चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने अथवा रुक जाने को योग माना गया है। चित्तवृत्तियों का निरोध तो समाधि की अवस्था में ही हो सकता है। व्युत्थान दशा में चित्तवृत्तियों का निरोध सम्भव नहीं है। अतएव उपर्युक्त पतंजलिप्रोक्त परिभाषा के दृष्टिकोण से केवल समाधि अवस्था को ही योग माना जा सकता है। व्युत्थान अथवा सांसारिक व्यवहार की अवस्था को योग नहीं कहा जा सकता। पातजल योगसूत्र के प्रामाणिक भाष्यकार समझे जाने वाले महर्षि व्यास ने भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए समाधि को ही योग माना है- योगः समाधिः।[14]

इसको योग का निवृत्तिमूलक पक्ष भी कहा जा सकता है क्योंकि इस वृत्तिनिरोधरूपी योग की प्राप्ति के लिए सांसारिक व्यापारों से निवृत्ति आवश्यक प्रतीत होती है। सांसारिक व्यापारों के चलते हुए चित्तवृत्तिनिरोध सम्भव नहीं हो सकता। इसके लिए तो समस्त सांसारिक व्यापारों से निवृत्त होकर एकान्त सेवन करते हुए चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करने का प्रयास करना पड़ता है। यहाँ नकार के माध्यम से योग को परिभाषित किया गया है। इसलिये उपर्युक्त परिभाषा योग के निषेधात्मक पक्ष को प्रस्तुत करती है।

उपर्युक्त योग के निषेधात्मक पक्ष के अतिरिक्त योग का दूसरा पक्ष विधेयात्मक पक्ष है। इस पक्ष का प्रतिनिधित्व श्रीमद्भगवद्गीता में प्रयुक्त योग की निम्नलिखित परिभाषाएँ करती हैं-

योगः कर्मसु कौशलम्।[15]

एवं

समत्वं योग उच्यते।[16]

प्रस्तुत परिभाषाओं में कर्मों में कुशलता को योग कहा गया है तथा सिद्धि और असिद्धि में समानभाव वाला होकर समत्वभाव में स्थित रहने को योग माना गया है। उल्लेखनीय है कि योग की इन परिभाषाओं के अनुसार योग की प्राप्ति के लिए सांसारिक व्यापारों से निवृत्ति आवश्यक नहीं है प्रत्युत समस्त सांसारिक क्रियाकलापों को करते हुए भी व्यक्ति योग की अवस्था की प्राप्ति कर सकता है। कर्मों में कुशलता से तात्पर्य यह है कि कर्म ऐसी कुशलता के साथ सम्पादित किये जाएँ कि वे कर्म व्यक्ति के बन्धन का कारण न बन सकें। जब व्यक्ति के अन्दर ऐसी कुशलता आ जाती है तब उसके लिए कर्मों का निषेध आवश्यक नहीं है। वह व्यक्ति कर्म करते हुए भी योग में स्थित रह सकता है।

इसी प्रकार सिद्धि-असिद्धि. लाभ-हानि, जय-पराजय, मान-अपमान, हर्ष- शोक इत्यादि द्वन्द्व भी व्यक्ति को व्युत्थान दशा में ही अभिभूत करते हैं। यदि व्यक्ति इन समस्त द्वन्द्वों में समानभाव वाला होकर समत्वभाव में स्थित रहना सीख ले तो उसे सासारिक व्यापारों को करते हुए भी योग की प्राप्ति सम्भव हो सकती है।

निष्कर्ष रुप में यह कहा जा सकता है कि योग की अनेक परिभाषाएँ समय-समय पर भारतीय मनीषियों ने प्रस्तुत की हैं। जिनमें कुछ परिभाषाएँ सांसारिक व्यापारों की निवृत्ति की स्थिति में सार्थक हैं और उनकी प्रासंगिकता उस अवस्था की ओर साधक को तीव्र गति से अग्रसर करके समाधि की अवस्था को उपलब्ध कराने में है। जबकि कुछ अन्य परिभाषाएँ साधक की उस अवस्था में सहायक हैं जब वह सांसारिक दायित्वों का सम्यक्-रूपेण पालन करते हुए भी योग की परम अवस्था को उपलब्ध होना चाहता है। किन्तु दोनों दृष्टियों में कोई तात्त्विक विरोध नहीं है अपितु साधक के स्वभाव में भिन्नता एवं योग्यता भेद को दृष्टिगत

रखते हुए उपर्युक्त दोनों दृष्टियों में से किसी एक को भी अपनाकर साधक योग के चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

संदर्भ-सूची:-

1. योगसूत्र, व्यासभाष्य- 1/1
2. योगसूत्र, तत्त्ववैशारदी 1/1
3. वामन शिवराम आप्टे संस्कृत-हिन्दी-कोश, द्वितीय सं0 1993, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पृष्ठ 839
4. डॉ0 रामसरुप 'रसिकेश हिन्दी-संस्कृत कोश, द्वितीय सं0 1979. चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, पृष्ठ 492
5. योगसूत्र- 1/2
6. कठोपनिषद् 2/3/10 व 11
7. योगशिखोपनिषद् 1/68 व 69
8. मैत्रायण्युपनिषद् - 6/25
9. याज्ञवल्क्य स्मृति- 1/8
10. श्रीमद्भगवद्गीता - 2/48
11. तदेव - 2/50
12. तदेव - 6/23
13. योगसूत्र 1/2
14. योगसूत्र, व्यासभाष्य- 1/1
15. श्रीमद्भगवद्गीता - 2/50
16. तदेव 2/48